International Journal of Advanced Educational Research
ISSN: 2455-6157; Impact Factor: RJIF 5.12
www.educationjournal.org
Volume 2; Issue 4; August 2017; Page No. 186-189

वेदों के अनुसार प्राचीन काल में भारतीय समाज का स्वरूप

अभिषेक अग्निहोत्री

शोध छात्र, संस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

समाज शब्द के व्याकरणात्मक व्युत्पत्ति को देखा जाय तो अमरकोश[1] में 'समाज' शब्द की व्युत्पत्ति 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'अज् गत्यादौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय होकर, यह शब्द बना है। इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि हमारे मनीषियों ने समाज का मूल–तत्त्व सामंजस्य और गतिशीलता को माना है। भारतीय चिन्तन में समाज मानवकृत व्यवस्था नहीं है, अपितु यह प्राकृतिक व्यवस्था है। मनुष्य ही नहीं वरन् कुछ हद तक पशुओं का जीवन भी अन्योन्याश्रित और परस्पर अवलम्बी दिखाई पड़ता है। जीवन के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक मनुष्य का जीवन सामंजस्य, सहयोग और सद्भाव के आधार पर ही परिष्कृत और परिमार्जित होकर सुसंस्कृत बनता है। अतः समाज वह नैसर्गिक व्यवस्था है जो मनुष्य में परस्पर सामंजस्य और परम्परागत गतिशीलता का निर्माण करती है।

यह स्पष्ट है कि मनुष्य समाज व्यवस्था का उद्भावक न होकर, उसका परिमार्जक और परिष्कर्ता है। क्योंकि मनुष्य का जीवन ही एक सामाजिक इकाई के रूप में होता है। अरण्यवासी मानव भी समूह में कुछ विशेष प्राकृतिक नियम एवं व्यवस्था के अनुसार ही जीवन–यापन करता था। मनुष्य जन्म लेते ही अपने पोषण, रक्षण और संवर्धन के लिए स्वावलम्बी नहीं होता है। प्राथमिक अवस्था के भरण–पोषण के लिए माँ तथा सुरक्षा और संस्कार के लिए माँ सहित सम्पूर्ण समाज पर निर्भर रहता है।

पाश्चात्य चिन्तन ने भी मनुष्य के बीच सहसम्बन्ध को ही समाज का आधार माना है, लेकिन अधिकांश चिन्तकों ने यह माना है कि समाज का उद्भव एक मानवकृत व्यवस्था के अन्दर हुआ और कुछ ने राज्य को ही समाज का नियामक मान लिया है। लेकिन भारतीय चिन्तकों के अनुसार समाज एक नैसर्गिक व्यवस्था है जिसका सांस्कृतिक रूप से निरन्तर विकास होता रहा और इस विकास की प्रक्रिया में राज्य का उद्भव बाद में हुआ। राज्य की उत्पत्ति के पूर्व परिवार, कुल, ग्राम आदि संस्थाओं का आविर्भाव समाज के विकास क्रम में हो चुका था। इन सभी संस्थाओं के विकास का मूलाधार समाज की धारणा शक्ति का यानी पोषणीयता का विकास ही था। समाज में प्रत्येक व्यक्ति के अस्तित्व, पोषण और रक्षण में कम से कम अवरोध और अधिक से अधिक सहयोग की भावना ही इसका मूलमंत्र है। इस भावना के विकास के लिए ही देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार समाज में अनेक व्यवस्थाओं को जन्म दिया गया। काल चक्र के अनुसार कुछ व्यवस्थाओं का विकास हुआ तो कुछ व्यवस्थायें लुप्त भी हो गयी। लेकिन इस पोषण, रक्षण और संवर्धन की मूलभावना अरण्यवासी मानव से लेकर आधुनिक मानव तक बनी हुई है। ऋग्वेद के अरण्यानी सूक्त से हमें पता चलता है कि अरण्य की दिव्य चेतना कैसी थी, वहाँ कहा गया है– वृक्षों के निर्यास और फल–फूल की गंध से अरण्य सुरक्षित हैं, खेती से दूर, पशुओं की वह मातृभूमि थी।[2] खेती, गाँव और गृह के जीवन से अलग आरण्यक जीवन था वहाँ भी निवास करने वाले अरण्यवासी इस पोषण, संवर्धन और रक्षण की भावना से प्रेरित थे। हमारे मनीषियों ने समाज के इस पोषण, रक्षण और संवर्धन की भावना को धारण–शक्ति के रूप में अभिव्यक्त करते हुए धर्म का नाम दिया। अतः भारतीय चिन्तन में धर्म केवल उपासना पद्धति न होकर समाज की उस व्यवस्था का नाम है जो प्रत्येक व्यक्ति को व्यक्तिगत विकास के साथ ही समाज के समष्टिगत विकास का कर्तव्य–बोध कराती है।

सृष्टि का सृजन कैसे हुआ होगा? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। इस शंका का समाधान ऋषियों, मनीषियों और आज के आधुनिक वैज्ञानिकों के द्वारा भी किया जा रहा है। मनु ने पितामह ब्रह्मा के उत्पन्न होने की कथा में सृष्टि प्रक्रिया का वर्णन किया है– ''उस परमात्मा ने नानाविध प्रजाओं की सृष्टि करने की इच्छा से युक्त होकर अपने शरीर से अभिध्यानमात्र के द्वारा पहले जल की सृष्टि की, और उसमें शक्तिरूप बीज डाल दिया। वह बीज परमेश्वर की इच्छा से सूर्य के समान प्रकाशवाला सोने का अण्डा बन गया। उस अण्डे में समस्त लोकों के पितामह ब्रह्म उत्पन्न हुए।[4] सृष्टि के आदि में जब मानव रूपी जीव का सृजन हुआ होगा तब उसके सृजन का एकांगी विचार प्राकृतिक प्रक्रिया में ही सम्भव नहीं है, उसके वंशानुक्रम को आगे बढ़ाने के लिए निश्चित रूप से एक से अधिक मानव की आवश्यकता पड़ी होगी नहीं तो सृष्टि अपने आविर्भाव के साथ ही तिरोभाव को प्राप्त हो गयी होती।

सृष्टि प्रक्रिया के विषय में हमारे वैदिक शास्त्रों में कहा गया है– 'एकोऽहं बहुस्याम', 'तदक्षत् बहुस्याम प्रजायेयेत्'[5] इस प्रकार के विचारों का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। अर्थात् उस परमात्मा ने कहा कि 'मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकार से उत्पन्न होऊँ'। एकता में बहुलता का विचार ही हमारी समाज रचना की आधारभूमि है जो कि मानवकृत न होकर दैवीय है। एकता में बहुलता के आधार पर खड़ी इस समाज रचना में जब बहुत्व का प्रतिनिधित्व करने वाला व्यक्ति इस बहुत्व के अन्दर की एकता के मूल–तत्त्व को भूल जाता है तथा अनुभूति भी नहीं कर पाता है तब व्यक्ति और समाज का संघर्ष खड़ा होता है। जबकि यह संघर्ष दोनों के लिए ही अहितकर है, क्योंकि दोनों की एक–दूसरे से भिन्न कोई सत्ता है ही नहीं। यही भारतीय तत्त्व चिन्तन की मान्यता है।

सम्पूर्ण परिदृश्य से यह स्पष्ट होता हे कि मनुष्य और समाज का विकास सहज, स्वतः स्फूर्त और साथ–साथ हुआ है। परन्तु देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार समाज की सांस्कृतिक रचना अलग–अलग देशों में अलग–अलग प्रकार से खड़ी हुई है। समाजगत समानताओं में वैश्विक स्तर पर एकरूपता भी दिखाई पड़ती है, तो बहुत सी विभिन्नतायें भी दृष्टिगोचर होती है।

नियमन और अनुशासन के पीछे एक ऐसी कृतज्ञता की भावना है, जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता, अपितु उसे केवल अनुभूत ही किया जा सकता है। इसी कृतज्ञता की भावना ने भारतीय समाज में हर उस चीज के प्रति मातृत्व भाव का सृजन किया जो मानव–जीवन के लिए किंचित्–मात्र भी सहायक सिद्ध हुई। इसीलिए तुलसी भी हमारे लिए माँ है, गाय भी हमारे लिए माँ है, गंगा भी हमारे लिए माँ है और यह राष्ट्र मन्दिर भी हमारे लिए भारत माँ है।

यह विचार भारत की मूल चेतना में निहित है, देश, काल एवं परिस्थिति के अनुसार उसके प्रकटीकरण भिन्न–भिन्न रूपों में हुए।

ऋग्वेद[6] में ऊँचे हिमालय का परिचय मिलता है, बल्कि हिमालय और समुद्र के बीच फैली प्राजापत्य भूमि के रूप में भारत का भी प्रथम परिचय प्राप्त होता है। भूमि और पर्यावरण की ओर वैदिक मानव की दृष्टि द्वन्द्व और संघर्ष की नहीं थी बल्कि तादात्म्यता थी। उसे सर्वत्र देवात्मशक्ति की व्याप्ति का भान रहता था और अपने को वह देवेषित विश्व का वासी स्वीकार करता था, इस भूमि की कल्पना माता के रूप में करता था।[7] अथर्ववेद के अनुसार भूमि नानाभाषाभाषी है और नानाधर्मा जनों का यथानिवास भरण करती है।[8] ऋग्वेद में भी भूमि को माता के रूप में प्रकट किया गया है, रामायण काल में यही उद्घोष 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी के रूप में प्रकट हुआ तथा आधुनिक भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन में यह 'वन्दे मातरम्' के रूप में प्रकट हुआ।

प्रकृति की जो शक्तियाँ मानव जीवन के पोषण, संवर्धन और संरक्षण में किंचित् मात्र सहायक हुई, उनमें भारतीय चेतना ने दिव्यता का दर्शन कर देवत्व का भाव स्थापित कर लिया। उनके लिए जन्म देने वाली माता देवता है, पालन करने वाला पिता देवता है, ज्ञान प्रदान करने वाला गुरु देवता है तथा घर में आतिथ्य स्वीकार करने वाला अतिथि भी देव–तुल्य है।[9] यह भारत की वह सामाजिक चेतना है जो जड़ से लेकर चेतन तक व्याप्त है, जो सूक्ष्म से लेकर स्थूल तक व्याप्त है, जो व्यष्टि से लेकर समष्टि तक व्याप्त है। वैदिक समाज के लिए पोषण एवं धारण करने वाली पृथ्वी देवता है, सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञ पृथ्वी को धारण करते हैं। उनके लिए पर्वत, नदी, वनस्पति, अग्नि, जल, सूर्य, आकाश, चन्द्रमा आदि सभी कुछ देवता है।[10] अतः भारतीय समाज का चिन्तन केवल मानव से मानव के सम्बन्ध तक सीमित न रहकर, सम्पूर्ण चराचर जगत् के साथ मानव के सम्बन्धों की व्याख्या है। इसके अन्तर्गत मानव के परिवार, वंश, कुल, जाति से लेकर आर्थिक सम्बन्ध, व्यावसायिक सम्बन्ध, आस्था, विश्वास, भक्ति, मुक्ति और ध्यान–साधना आदि सभी कुछ समाहित हैं। समाज की तरह ही नैसर्गिक भावना से राष्ट्रभाव का अभ्युदय भी सामाजिकता के बोध से ही साकार हुआ है।

प्राचीन भारतीय समाज की अवधारणा को और स्पष्ट रूप से समझने के लिए हमें वैदिक, पौराणिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों में वर्णित समाज के स्वरूप को समझना अति आवश्यक है। वैसे भारत में प्राचीन काल से अब तक लिखा गया वाङ्मय इतना विशाल है कि केवल पुस्तकों के नाम ही लिखे जायें तो नामों की सूची के ही कई ग्रन्थ तैयार हो सकते हैं। परन्तु मूलभूत ग्रन्थ जो सम्पूर्ण समाज में मान्य है, समाज जिनसे प्रेरणा प्राप्त करता है, समूचा भारत जिसमें अभिव्यक्त होता है, उनको अभिव्यक्त किया गया है– वेद, पुराण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता तथा षड् दर्शन में निहित श्रेष्ठतम ज्ञाननिधि है, जिसको श्रद्धापूर्वक हृदय में धारण करें।[11]

भारतीय समाज जीवन में वेदों का अप्रतिम महत्त्व रहा है। प्राचीन काल से समाज द्वारा वेदों को हमारे दर्शन, धर्म, संस्कृति की गंगोत्री माना गया है। समाज जीवन में वेदों का अत्यधिक महत्त्व है, कहा गया है– ''वेदोऽखिलो धर्ममूलम्'', ''वेदोऽखिलो ज्ञानमूलम्'' अर्थात् वेद सभी धर्मों का मूल है, सभी ज्ञान का मूल वेद है। वेद का अर्थ निरपेक्ष ज्ञान है, परन्तु उस निरपेक्ष ज्ञान की अनुभूति साधना व तपस्या द्वारा भिन्न–भिन्न ऋषियों ने की और उस साक्षात्कार को वाणी द्वारा मंत्रों के रूप में, ऋचाओं के रूप में अभिव्यक्त किया। भारतीय समाज प्राचीन काल से ही वेदों को 'नित्य' और 'अपौरुषेय' मानते हैं, इनके दृष्टा गृत्समद, विश्वामित्र, अत्रि, वामदेव आदि ऋषि थे। सृष्टि जब व्यक्त होती है तो वेद व्यक्त होता है और जब लुप्त होती है तो वेद भी लुप्त हो जाते हैं। 'ऋषयो मंत्र दृष्टारः'[12] ऋषि मंत्र के दृष्टा है। वैदिक ऋषियों की मान्यता थी, अव्यक्त अवस्था से जब जगत् व्यक्त होता है तो मूलस्थिति में विक्षोभ उत्पन्न होता है, विक्षोभ के साथ कंपन और कंपन ही ध्वनि के रूप में व्यक्त होते हैं। अतः माना गया है कि सृष्टि कंपन है और हमारे यहाँ प्राचीनकाल से नादब्रह्म को सृष्टि का कारण माना है, सृष्टि में व्याप्त इस नाद के विविध रूपों का ही ऋषियों ने साक्षात्कार किया तथा उन्हें वैदिक मंत्रों के रूप में अभिव्यक्त भी किया।

अनुश्रूतियों के अनुसार कृष्ण द्वैपायन व्यास ने इनका संकलन, सम्पादन और वर्गीकरण किया था, जिसके कारण वह वेदव्यास कहलाये। वेदों की संख्या चार है– ऋक्, यजु, साम और अथर्व। इनमें प्रत्येक के चार भाग हैं– संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। संहिता का शाब्दिक अर्थ है 'संग्रह', देवताओं की स्तुति में प्रयुक्त मंत्रों का संग्रह। ब्राह्मण ग्रन्थों में मंत्रों की व्याख्या और यज्ञ याग का विस्तार से वर्णन है। आरण्यकों में सामान्यतः यज्ञों के आध्यात्मिक पक्ष की मीमांसा मिलती है और 'उपनिषदों' में जो वेदों का अन्तिम भाग होने के कारण वेदान्त कहलाये, विशेषतः उनमें दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया गया। इसी प्रकार ऋग्वेद का विषय है– 'शस्त्र' अर्थात् जो मन्त्रों द्वारा उच्चरित होता है तथा जिसका गान नहीं किया जा सकता, यजुर्वेद का विषय है– 'इज्या' अर्थात् यज्ञ, सामवेद का विषय है– 'स्तुति–स्तोम' अर्थात् स्तुति के लिए प्रयुज्यमान ऋक् समुदाय जो उद्गाता के द्वारा गया जाता है, अथर्ववेद का प्रतिपाद्य विषय है– 'प्रायश्चित'।[13] वेदों का नाम 'श्रुति' भी है, अर्थात् जो परम्परा से श्रवण द्वारा कंठस्थ रूप में निर्वाहित होते चले आये, यह परम्परा अनेक ऋषि, आश्रमों के शिष्य–प्रशिष्यों द्वारा सुरक्षित रही। अल्बेरूनी ने अपनी किताब में कहा है कि वेद गुरु–मुख से सुन कर शिष्य–परम्परा द्वारा कंठस्थ रूप से विद्यमान रहे।[14]

ऋषियों ने उस समय सर्वत्र एक व्यवस्था को ही देख कर ऐसी विश्व–व्यवस्था की कल्पना की, जिसका प्रयोग वेदों में है, उसी वैदिक स्वरूप को 'ऋत' कहा गया है। वैदिक सृष्टिविद्या का मूलाधार ही ऋत की अवधारणा है। अनन्त प्रकृति, समस्त चराचर में व्याप्त जो जगत्–विषयक नियम है संहिताओं में उसे 'ऋत' नाम से कहा गया है। ऋत एक ऐसी अनुशासन व्यवस्था है जिसका कोई भी उल्लंघन नहीं कर सकता है। ऋग्वेद में कहा भी गया है कि 'द्युलोक और दुहितृस्थानीय, ज्योतिर्मय वस्त्रों को धारण किये हुए, सबके प्रति सद्भावननना रखने वाली यह उषा सामने दिखाई दे रही है, मानो वह 'ऋत' के मार्ग का बुद्धिपूर्वक अनुसरण करती हुई कभी भी नियमों का अतिक्रमण नहीं करती।[15] वेदों में ऋत की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह सभी प्रकार की सुख–शान्ति का स्रोत है। वेदों में यह 'ऋत' नित्य, शाश्वत और सबका पिता है। वेदों का यह नैतिक नियम देवताओं और मनुष्यों को सन्मार्ग पर चलने का निर्देश करता है, मनुष्यों के लिए उसका स्पष्ट निर्देश है कि वे पापों से बच कर पुण्य की ओर प्रवृत्त हों।

वैदिक काल में सामाजिक जीवन पारस्परिक एकता, सहयोग, सद्भाव और संगठन पर निर्भर था। मानव का अस्तित्त्व समाज पर अवलम्बित तथा जीवित था और व्यक्ति ही समाज का निर्माता था। वेदों में संगठन और एकता के अनेक उदाहरण हमें दिखाई देते हैं, ऋग्वेद में कहा गया है कि ''हे मनुष्यो, तुम परस्पर मिल कर रहो एक साथ स्तोत्र पाठ करो, तुम सबका मन एक समान हो, जैसे देवता एक साथ होकर अविरोध भाव से अपना हविर्भाग ग्रहण करते थे, वैसे ही तुम भी एक साथ होकर अपना प्राप्य ग्रहण करो।''[16] और भी कहा गया है कि ''तुम्हारा अध्यवसाय एक हो, हृदय एक हो, मन एक हो, तुम सभी लोग मिलकर एक साथ रहो।[17] इन मंत्रों में वर्णित जो समानता और समान वितरण की जो भावना विद्यमान है, उससे ही वैदिक काल के आदर्श सामाजिक जीवन का साक्षात्कार होता है। अतः जब प्रत्येक मनुष्य अपने कर्तव्यों के प्रति सतर्क रहता हुआ अपनी अन्तरात्मा की निर्मलता और स्वच्छता को

विद्यमान रखता है, तब प्रत्येक मनुष्य के अन्दर एकता और संगठन की प्रवृत्ति का विकास भी होता है।

यजुर्वेद में पारस्परिक एकता के संदर्भ में कहा गया है कि, ''तू मुझे दे और मैं तुझे देता हूँ, तू मुझसे उत्तम गुण धारण कर और मैं तुझसे उत्तम गुण धारण करता हूँ, यह मैं लेता हूँ और यह तू स्वीकार कर।''[18] वेदों के अनुसार पारस्परिक सहयोग, सद्भाव, समन्वय और सहायता करना ही मानव का प्रथम कर्त्तव्य है। आदर्श एवं अनुकरणीय उदाहरण ऋग्वैदिक ऋषियों के द्वारा समाज को दिया गया कि 'जो अकेले खाता है, वह पापी है'।[19] अथर्ववेद में भी इसी प्रकार कहा गया है कि 'हे प्रभु, मुझ पर ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे मैं मनुष्य मात्र के प्रति, चाहे मैं उसको जानता हूँ या नहीं, पर मैं उसके प्रति सद्भावना रख सकूँ''।[20] समस्त मानवता में मैत्री भावना का विकास हो, इसलिये ही ऋषियों ने मन्त्रों के माध्यम से कहा है कि 'हम सब मिलकर ऐसी प्रार्थना करे, जिससे मनुष्यों में परस्पर सुमति और सद्भाव का विस्तार हो सके।'[21]

वेदों के द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व में उदारता, निस्पृहता, सामाजिक एकता तथा समानता की प्रवृत्ति का विकास करना नियत था, जिसमें किसी प्रकार के एकाधिकार और अनावश्यक संचय के लिए कोई स्थान नहीं था। इसीलिए तो कहा गया कि 'सौ हाथों से संचय करो और सहस्र हाथों से उसका वितरण करो'।[22] अर्थात् वैदिक काल में समाज के एक ओर उद्योगशील बने रहकर यश और धन को प्राप्त करने की प्रवृत्ति का भान होता है, वहीं दूसरी ओर अर्जित की गई सम्पत्ति को मुक्त हस्त से वितरित करने की उदारता का भी पता चलता है।

उपसंहार

राष्ट्रीय एकता की भावना को महत्व देते हुए 'ईशावास्योपनिषद्' में कहा गया है कि 'यह सब जो कुछ पृथ्वी पर चराचर वस्तु है वह ईश्वर से आच्छादित है, मनुष्य को ईश्वर के दिए हुए पदार्थों का उपभोग करना चाहिए, किसी अन्य व्यक्ति के धन का लालच नहीं करना चाहिए।[23] अर्थात् मनुष्य को स्वार्थ का त्याग कर परमार्थ की और मन लगानना चाहिए, तभी वह सुख को प्राप्त करेगा और ईश्वर ने जो सम्पत्ति उसे दी है उसका भी उपयोग वह अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के लिए करेगा। जिससे मनुष्य की व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति के साथ–साथ राष्ट्र की उन्नति भी होगी। सामवेद के अन्तर्गत समष्टिमय लोक–हितकारी संस्कृति का उदाहरण मिलता है, जिसमें इन्द्र, सूर्य, विष्णु और बृहस्पति से सर्वतः समस्त मानवता के प्रति कल्याण की कामना की गयी है।[24] वैदिक काल में समाज को सुख–शान्ति, सहयोग, सद्भाव एवं उत्साह–युक्त जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरित किया गया है।

उपनिषद् के ज्ञान से मनुष्य सुख–दुःख, लाभ–हानि, जय–पराजय की अपेक्षा न करते हुए निष्काम भाव से कर्म करता है और ये उपनिषद् मनुष्य को निरन्तर कर्म करने के लिए प्रेरित भी करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् में 'संयम, दया और दान को धर्म कहा है''[25] अर्थात् यदि हम इंद्रियों का दमन करें, दूसरे के प्रति दयाभाव रखें और अपने धन का कुछ भाग दान में दें तो हम अपनी आध्यात्मिक उन्नति करेंगे और समाज का कल्याण करेंगे। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि तप, दान, सरलता, अहिंसा और सत्य बोलना जीवनरूपी यज्ञ की दक्षिणा है।[26] इसी उपनिषद् में कहा गया है कि 'मनुष्य उदार विचार रखें, किसी स्त्री के साथ अशिष्ट व्यवहार न करें, लोक मंगल की उपेक्षा न करें, विद्वानों का अनादर न करे और सबको अपना जैसा समझे।[27] उपनिषदों में अनेकता में एकता स्थापित करके जीवन की विभिन्न धाराओं को एक ही महार्णव में विलयित करने का महान सन्देश निहित है। उपनिषदों का उद्देश्य समाज में वह व्यवस्था स्थापित करना था जो ईश्वरीय नियमों के अनुरूप हो और जिससे व्यक्ति और समाज दोनों की ऐहिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति हो सके। समस्त मानवता के लिए समान रूप से श्रेय और हित का दिग्दर्शन उपनिषदों में किया गया है, इसी प्रकार के विचारों से उपनिषदों की महानता का ज्ञान होता है। प्राचीन काल की संस्कृति एवं समाज का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि परिस्थितियों तथा रुचियों के अनुरूप समाज के कुछ क्षेत्रों में परिवर्तन हुआ, किन्तु उनका आधार प्राचीन वैदिक संस्कृति ही थी।

संदर्भ

1. अमरकोश, 2.5.42
2. आ×जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्।
   प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम्।। (ऋग्वेद–10.146.6)
3. धारणात् धर्म मित्याहुः। – (महाभारत, कर्ण पर्व–69.59)
4. सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
   अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्।।
   तदण्डमभवद्धैमं सहस्त्रांशुसमप्रभम्।
   तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः।। (मनुस्मृति, 1.8–9)
5. छान्दोग्योपनिषद्–6.2.3
6. यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः। (ऋग्वेद–10.121.4)
7. माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः। अथर्ववेद–12.1.12
8. जनं विभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।– अथर्ववेद–12.1.45
9. मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव।– तैत्तिरीयोपनिषद्–1.11.2
10. अग्निर्देवतावातोसूर्योदेवताचन्द्रमादेवतावसवोदेवता।–यजुर्वेद–14 / 20
11. चतुर्वेदाः पुराणानि सर्वोपनिषदस्तथा।
    रामायणं भारतं च गीताषड्दर्शनानि च।।
    एष ज्ञाननिधिः श्रेष्ठः श्रद्धेयो हृदि सर्वदा।
12. मनुस्मृति–2.6
13. ऋक् यजुः सामाथर्वाख्यान् देवान् पूर्वादिभिर्मुखैः।
    शस्त्रमिज्यां स्तुतिस्तोमं प्रायश्चित्तं व्यधात् क्रमात्।।
14. अल्बेरूनी का भारत, पृ0 8
15. एषा दिवो दुहिता प्रत्यदर्शि ज्योतिर्वसना समना पुरस्तात्।
    ऋतस्य पन्थानमन्वेति साधु प्रजानतीव नदिशो मिनाति।।–ऋग्वेद–1.124.3
16. संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम।
    देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते।।– ऋग्वेद–10.191.2
17. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
    समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।–ऋग्वेद–10.191.4
18. देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे।
    निहारं च हरासि मे निहारं नि हराणि ते।।–यजुर्वेद–3.50
19. केवलाघो भवति केवलादि।– ऋग्वेद–10.177.6
20. यांश्च पश्यामि यांश्च न, तेषु मा सुमतिं कृधि।–अथर्ववेद–17.1.7
21. तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः।–अथर्ववेद–3.30.4
22. शतहस्तं समाहार, सहस्रहस्त संकिर।–अथर्ववेद–3.24.5
23. ईशावास्योमिदं सर्वं यत्कि×च जगत्यां जगत्।
    तेन त्येक्तेन भु×जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम्।।–यजुर्वेद–40.1
24. स्वस्ति न इन्द्रो बृद्धश्रवाः स्वस्तिः न पूषाः विश्ववेदाः।
    स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु।।–सामवेद–21.1.9
25. दाम्यत दत्त दयध्वमिति।– बृहदारण्यकोपनिषद्–5.2.3
26. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसा सत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः।।–छान्दोग्योपनिषद्–3.17.4

27. महामनाः स्यात्तद्व्रतम्। तपन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। वर्षन्तं न निन्देत्तद्व्रतम्। लोकान्न निन्देत्तद्व्रतम्। पशून्न निन्देत्तद्व्रतम्। ब्राह्मणान्न निन्देत्तद्व्रतम्।।–छान्दोग्यापनिषद्–2, 11, 14, 15, 17, 18, 20.